बिहार की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव

डॉ0 उमेश कुमार पासवान शोध–छात्र, स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग,
ल०ना० मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

भारतीय राजनीति में जातिवाद का दखल कोई नई बात नहीं है और प्रायः सभी दल पूरी प्रतिबद्धता के साथ अपने–अपने वोट बैंक को बढ़ाने के लिए इस सशक्त हथियार का इस्तेमाल करते रहे हैं। लेकिन प्रत्यक्ष तौर पर कोई भी दल ये स्वीकार करने की हिम्मत नहीं कर रहा है कि उसने ऐसा अपना वोट बैंक बढ़ाने की खातिर किया है, बल्कि सभी का ये कहना है कि उन्होंने केवल समाज के सभी समुदायों वर्गों के उचित प्रतिनिधित्व का ख्याल रखा है, ताकि समाज का कोई भी वर्ग उपेक्षित न रहे।

भारतीय सामाजिक संगठन की सबसे बड़ी विशेषता शायद जाति व्यवस्था ही है। भारतीय जनसाधारण के लिए जाति कितना महत्त्व है यह इस बात से भी पता चलता है कि साधारण भारतीय किसी दूसरे भारतीय का परिचय प्राप्त करते समय उसकी जाति जानना सबसे अधिक आवश्यक समझता है।श भारतीय राजनीति में जातीय राजनीति उतनी ही पुरानी है, जितनी कि हमारी आजादी। यह अलग बात है कि उस समय समाज के सभी वर्गों में समानता के लिए दलित और पिछड़ों को राजनीति में भागीदारी देने की बात हुई। बताते चलें कि आजादी मिलते ही जब 1952 में अंतरिम सरकार के लिए चुनाव की बात हुई तो कांग्रेस पार्टी ने सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व के नाम पर दलित, पिछड़ी और अत्यंत पिछड़ी जातियों को टिकट दिया। इसी क्रम में दरोगा राय, प्रभावती गुप्ता और जगदेव प्रसाद जैसे पिछड़े वर्ग के नेता भारतीय राजनीति का हिस्सा बने। उसके बाद साठ के दशक में जेपी के नेतृत्व में समाजवादियों ने अगड़ा–पिछड़ा के नाम पर ही चुनाव लड़ा और संपूर्ण क्रांति का नारा दिया। दूसरी तरफ उसी समय समाज का एक वर्ग हाशिए पर था, इसलिए सोशलिस्ट पार्टी ने नारा दिया– श्संसोपा ने बांधी गांठ, पिछड़े पावें सौ में साठ।'

राजनीति में जाति के आधार पर बढ़ते प्रतिनिधित्व का ही नतीजा था कि सन 1980 के चुनाव में कांग्रेस पार्टी ने नारा दिया– श्जात पर न पात पर, मुहर लगेगी हाथ पर।श इसके बाद तो राजनीति में जैसे जातिवाद को पंख ही लग गए। मंडल कमीशन के नाम से पिछड़े वर्गों को आरक्षण देने का बवंडर भारतीय राजनीति का न भूलने वाला कालखंड है। इस मंडल कमीशन के चलते ही 7 नवंबर, 1990 को वीपी सिंह की सरकार चली गई। तब तक बिहार में लालू प्रसाद यादव, रामविलास पासवान और नीतीश कुमार जैसे पिछड़ों के नेता अपना स्थान बना चुके थे। जाते–जाते वीपी सिंह बिहार में लालू प्रसाद यादव को मुख्यमंत्री बना गए। उसके बाद तो बिहार में जातिगत आधार पर ही चुनाव लड़ा जाने लगा। लालू यादव के समय एमवाई का समीकरण खूब चला। इन्हीं दिनों लालू यादव ने श्भूरा बाल (भूमिहार, राजपूत, ब्राह्मण और लाला) नारा दिया था। इस जातिगत समीकरण ने बिहार के राजनीतिक और सामाजिक संतुलन को हमेशा के लिए

बदल दिया। दूसरी तरफ इन्हीं दिनों उत्तर प्रदेश में कांशीराम ने बसपा की स्थापना की और शतिलक, तराजू और तलवार इनको मारो जूते चार।श एवं श्बाभन ठाकुर लाला चोर बाकी सब है डीएसफोर।श जैसे जातिगत नारों से चुनाव लड़ा। इन दिनों अन्य राज्यों में भी जातिगत आधार पर ही चुनाव लड़े गए व टिकट बांटे गए।

जहां तक बिहार विधानसभा की बात है तो यह जातिगत समीकरण के लिए ही जानी जाती है। जब तक लालू यादव का शासन काल था, बिहार की राजनीति में यादवों का प्रतिनिधित्व सबसे अधिक था। नीतीश कुमार के आने के बाद एक लंबे अंतराल के बाद थोड़ा–बहुत परिवर्तन हुआ है। यादव और कुर्मी जाति की संख्या घटी है तो अन्य पिछड़ी जातियों के विधायकों की संख्या बढ़ी है। वहीं कोइरी जाति के विधायकों की संख्या भी बढ़ गई है। कायस्थ को छोड़कर अन्य सभी अगड़ी जातियों के विधायकों की संख्या बढ़ी है।

वैसे परिवर्तन तो प्रकृति का नियम है, लेकिन बिहार में जब भी चुनाव होते हैं विधानसभा की सामाजिक बनावट में कुछ–न–कुछ परिवर्तन हो ही जाता है। लेकिन 2005 के चुनाव में बिहार की जनता ने लालू यादव के जातिगत आधार को ठेंगा दिखाया और विकास व सुशासन को चुना। इस तरह बिहार में जदयू और भाजपा गठबंधन की सरकार बनी। वहीं 2010 के चुनाव में विकास जाति पर भारी पड़ा। लोगों ने एक बार फिर जाति–धर्म को किनारे कर वोट डाले और सुशासन बाबू की सरकार बनी। इस तरह विधानसभा में नया सामाजिक समीकरण बना। इस नए सामाजिक समीकरण का असर वर्तमान विधानसभा की बनावट पर साफ दिखाई पड़ता है।

महादलित की राजनीति का असर कितना व्यापक रहा, यह इससे पता चलता है कि अधिकांश सुरक्षित सीटें जदयू–भाजपा गठबंधन को ही गई हैं। अति पिछड़ी जातियों ने विधानसभा में पहली बार 19 का आंकड़ा पार किया था। लालू प्रसाद के शासन काल में उनकी संख्या विधानसभा में छह–सात हुआ करती थी। इन दिनों उनकी सख्या 17 है। बिहार विधानसभा के 243 सदस्यों में यादवों की संख्या घट कर 39 पहंच गई है। हालांकि यादव ऐसी जाति है, जिसके विधायकों की संख्या सबसे अधिक है। एक समय ऐसा भी था, जब (1995 में) यादव विधायकों की संख्या विधानसभा में 86 हुआ करती थी। इस चुनाव के बाद से ही यादवों की संख्या लगातार घट रही है। राजद के सिर्फ दस यादव प्रत्याशी ही जीत पाए। विधानसभा में जदयूद्द भाजपा के खाते में यादवों की संख्या अधिक है। जदयू ने 24 यादवों को टिकट दिया था, जिसमें 19 जीत गए। 19. मुसलमान विधायकों में सबसे अधिक संख्या जदयू में सात है।

2010 विधानसभा में अगड़ी जाति के विधायकों की संख्या 76 है। पिछले चुनाव की तुलना में ब्राह्मण, राजपूत और भूमिहार जाति के विधायकों की संख्या विधानसभा में यादवों के बाद दूसरे नंबर पर है। 1990

में अगड़ी जाति के विधायकों की संख्या 105 थी। बाद के तीन चनावों में उनकी संख्या साठ के नीचे ही सिमट गई। इसे कुछ लोग लालू यादव के नारे श्भूरा बाल साफ करोश के परिणाम के तौर पर देखते हैं। 2010 विधानसभा में इनकी संख्या बढ़ी है, लेकिन 1990 की तुलना में कम ही है। बिहार की राजनीति से समाज में हुए बदलाव का विधानसभा में प्रतिबिंबित होना स्वाभाविक है। कभी किसी खास समुदाय की संख्या अधिक होती है तो किसी की घट जाती है। बिहार के चुनाव में सामाजिक समीकरण निरंतर परिवर्तनशील है। इसी तरह नए–नए समीकरण बनते और बिगड़ते हैं।

चुनाव व राजनीति में जाति के दखल की उपयुक्तता और औचित्य पर हमेशा सवाल उठते रहे हैं। कुछ लोगों का कहना है कि चुनावों में जाति के आधार पर टिकटों का बंटवारा करने से समाज में संतुलन कायम होता है। यह एक प्रकार की सोशल इंजीनियरिंग है, जिससे असमानता की खाई को पाटने में सहायता मिलती है। वहीं दूसरी ओर चुनावों में जातिवाद के प्रयोग की भारी निंदा करने वाला पक्ष भी मौजूद है। चुनाव में जातिगत आधार पर निर्णय लेने के विरोधियों का मानना है कि ऐसा करना देश की सामाजिक समरसता के साथ खिलवाड़ करने जैसा है। जातिवाद के कारण देश में विघटन और परिणामस्वरूप गृहयुद्ध की संभावना पैदा होती है।

बिहार की तो पूरी राजनीति जातीय वफादारियों पर टिकी रही है। लालू प्रसाद यादव का मुस्लिम यादव गठजोड़ मजबूती से कायम है। जिसके परिणामस्वरूप 2015 के बिहार विधानसभा के चुनाव में जदयू को 71 सीट और राजद को 80 सीट मिली,मतलब साफ है नितीश के सुशासन के बदले लालू का जातिवाद ज्यादा मजबूत साबित हुआ है ।

संदर्भ :–

1. महतो, महेन्द्र कुमार, जाति एवं सामाजिक असमानता, महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह रिसर्च सोसाइटी, दरभंगा, 1996

2. सिन्हा, सच्चिदानन्द, लोकतंत्र की चुनौतियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005.